धर्म
को व्यवहार में कैसे उतारें?

डॉ. दयानन्द भार्गव

श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्

उद्देश्य एवं प्रवृत्तियाँ

- ☐ जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन, अनुसंधान, संरक्षण, संवर्धन, लेखन-प्रकाशन, प्रचार-प्रसार आदि में सहयोग देना।
- ☐ जैन विद्या में निरत विद्वानों, श्रीमन्तों, कार्यकर्ताओं व संस्थाओं में पारस्परिक सम्पर्क व सामञ्जस्य स्थापित करना।
- ☐ जनसाधारण को जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से परिचित कराने के लिए समय-समय पर व्याख्यानमालाओं, शिविरों, संगोष्ठियों, निबन्ध आदि प्रतियोगिताओं का आयोजन करना व सम्बद्ध साहित्य प्रकाशित करना।
- ☐ जीवन-निर्माणकारी सद् साहित्य का निर्माण एवं प्रकाशन करना।

सदस्यता-श्रेणियाँ

आजीवन विद्वत् सदस्यता	१०१ रु०
आजीवन सहयोगी सदस्यता	
आधार स्तम्भ	५००१ रु०
स्तम्भ	२५०१ रु०
संरक्षक	१००१ रु०
संवर्धक	५०१ रु०
ट्रैक्ट साहित्य सदस्यता	१०१ रु०

(सदस्य बनने पर १०८ पुस्तकें निःशुल्क भेजी जायेंगी)

ज्ञान-प्रसार पुस्तकमाला–५४

धर्म को व्यवहार में कैसे उतारें ?

□

डॉ० दयानन्द भार्गव
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

प्रकाशक
श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्
एवं
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
जयपुर

☐ धर्म को व्यवहार में कैसे उतारें ?

☐ लेखक :
डॉ० दयानन्द भार्गव

☐ सम्पादक-संयोजक :
डॉ० नरेन्द्र भानावत

☐ अर्थ-सहयोगी :
श्री टीकमचन्द हीरावत
३, पिलवा गार्डन, मोतीडूंगरी रोड,
जयपुर (राज०)

☐ प्रकाशक :
© श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्
सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलकनगर
जयपुर-३०२००४ (राज०) फोन : ४७४४४
एवं
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर-३०२००३ फोन : ४८९९७

☐ प्रथम संस्करण : नवम्बर, १९८८, ५३०० प्रतियाँ

☐ मूल्य : दो रुपये

☐ मुद्रक :
अजन्ता प्रिण्टर्स
जौहरी बाजार, जयपुर-३, फोन : ४४०५७

नोट—यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से परिषद्, मण्डल अथवा सम्पादक की सहमति हो ।

प्रकाशकीय

जैन विद्वत् परिषद् ने 'कुआ प्यासे के पास जाए' अर्थात् विद्वानों, अनुभवी चिन्तकों और तपःपूत साधकों के विचार जनसाधारण तक पहुँचें, इस उद्देश्य से **'ज्ञान प्रसार पुस्तकमाला'** का प्रकाशन आरम्भ किया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न विषयों पर विविध विधाओं की १०८ पुस्तकें प्रकाशित करना तय किया गया। ३० पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के साथ आगे के प्रकाशन संयुक्त रूप से प्रकाशित किये जा रहे हैं ताकि इनका अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो।

१०१ रुपये देकर कोई भी व्यक्ति या संस्था ट्रैक्ट साहित्य सदस्य बन सकते हैं। सदस्यों को इस योजना के सभी उपलब्ध प्रकाशन निःशुल्क प्रदान किये जाते हैं। सदस्यता राशि **'श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्'** के नाम ड्राफ्ट या मनिआर्डर से भेजें। २५०० रुपये तक की राशि प्रदान कर कोई भी व्यक्ति या संस्था ट्रैक्ट प्रकाशन में सहयोगी बनकर श्रुतसेवा का लाभ उठा सकते हैं।

जयपुर के प्रसिद्ध रत्न-व्यवसायी एवं साहित्यानुरागी श्री टीकमचन्दजी हीरावत ने अपनी सुपुत्री आयुष्मती काजल एवं चि० अशोक (सुपुत्र श्री चंचल मलजी चौरड़िया, वरिष्ठ स्वाध्यायी एवं सचिव स्वाध्याय

संचालन समिति, जोधपुर) के शुभ विवाह पर प्रस्तुत प्रकाशन में अथ-सहयोग प्रदान किया है। नव दम्पती के प्रति हमारी मंगल कामनाएँ।

श्री हीरावतजी स्वभाव से संवेदनशील, करुण हृदय, सेवाभावी, उदार, दानी और धार्मिक वृत्ति के स्वाध्यायी साधक हैं। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल जयपुर के आप मंत्री रह चुके हैं। विविध धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों में आप तन, मन, धन से योग देते है। आपका पूरा परिवार सद्संस्कारो और धर्मपरायण हैं। आपके सहयोग के प्रति हम अत्यन्त आभारी हैं।

श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् द्वारा अक्टूबर, १९८६ में पोपाड़ शहर में आयोजित विद्वत् संगोष्ठी के अवसर पर जैन धम-दर्शन के प्रमुख विद्वान् डॉ० दयानन्द भार्गव ने जो विशेष व्याख्यान दिया था, उसका प्रकाशन करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता है। आशा है, धर्म को व्यवहार में उतारने में यह पुस्तक उपयोगी और मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

भंवरलाल कोठारी	**देवेन्द्रराज मेहता**
अध्यक्ष	अध्यक्ष
डॉ० नरेन्द्र भानावत	**चैतन्यमल ढड्ढा**
महामंत्री	मंत्री
श्री अ.भा. जैन विद्वत् परिषद्	**सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल**

धर्म को व्यवहार में कैसे उतारें ?*

धर्म-दर्शन के क्षेत्र में कुछ नये प्रश्न पूछे जाने लगे हैं। आधुनिक सन्दर्भ में धर्म की क्या प्रासंगिकता है ? वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दर्शन की क्या उपयोगिता है ? साम्प्रतिक समस्याओं के समाधान में धर्म-दर्शन का क्या योगदान हो सकता है ? इसी प्रकार के नये प्रश्नों की श्रृंखला में एक यह भी प्रश्न है कि धर्म को व्यवहार में कैसे उतारें ?

जहाँ तक मेरी जानकारी है ऐसे प्रश्न कम से कम भारत में १०० वर्ष पूर्व तक नहीं पूछे जाते थे। इसीलिए इन प्रश्नों को मैंने नये प्रश्न कहा है। इनका उत्तर प्राचीन शास्त्रों में शब्दशः नहीं मिलेगा; अर्थशः तो सभी

---

* श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् एवं श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ पीपाड़ शहर (जोधपुर) के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित विद्वत् संगोष्ठी के अवसर पर १२ अक्टूबर, १९८६ को पीपाड़शहर में दिया गया विशेष व्याख्यान।

प्रश्नों का उत्तर शास्त्र से ही खोजना है। धर्म के क्षेत्र में आगम-विरुद्ध तो कुछ कहने का अवकाश रहता ही नहीं है; आगमानाश्रित विषय-वस्तु का प्रतिपादन करने का भी अवकाश कम ही रहता है। धर्म के क्षेत्र में जब नये प्रश्न भी उठे तो उनके उत्तर का आधार प्राचीन आगमों को ही बनाया गया। उदाहरणतः जैन आगमों में कहीं प्रामाण्यवाद की समस्या का समाधान नहीं है। यह समस्या मुख्यतः मीमांसक तथा नैयायिक के बीच की समस्या थी। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी था तथा नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी। जब यह समस्या सम्मुख आयी तो जैन आचार्यों ने आगम के अनेकान्तवाद को आधार बनाकर अभ्यास दशा में स्वतः प्रामाण्य तथा अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य को माना। (विस्तार के लिये लेखक के ग्रन्थ "Glimpses of Indian Philosophy and Sanskrit Literature' के पृष्ठ १३०–१३९ देखें।) इस प्रकार उन्होंने मूल आधार आगम का लेकर अपनी स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति के उपयोग द्वारा उसका विस्तार एक ऐसी समस्या के समाधान करने के लिये किया जिसका साक्षात् उल्लेख आगम में नहीं था।

धर्म को व्यवहार में उतारने के प्रश्न का उत्तर भी हम इसी पद्धति से खोजने का प्रयत्न करेंगे। आधार आगम का रहेगा जिसका विस्तार हमें इस प्रकार करना

होगा कि प्रश्न का समाधान आज के श्रोता के लिये हृदयगम्य हो सके।

धर्म को व्यवहार में कैसे उतारें—यह प्रश्न नवीन है किन्तु सर्वथा नवीन नहीं है। महाभारत के खलनायक दुर्योधन के सम्मुख यह प्रश्न था। उसे धर्म का स्वरूप ज्ञात नहीं था—ऐसी बात नहीं है। वह अधर्म का स्वरूप भी जानता था। इस पर भी वह धर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता था तथा अधर्म से निवृत्त नहीं हो सकता था। संक्षेप में उसकी समस्या यह थी कि वह धर्म को व्यवहार में नहीं उतार सकता था—

जानामिधर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

'गीता' में अर्जुन ने यह प्रश्न और भी स्पष्ट शब्दों में तृतीय अध्याय [श्लोक-३६] में प्रस्तुत किया है—

अथकेन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

कौन से तत्त्व हैं जो मनुष्य को न चाहने पर भी बलपूर्वक पाप में घसीट ले जाते हैं?

अभिप्राय यह है कि यह प्रश्न कि धर्म को व्यवहार में कैसे उतारें, सर्वथा नवीन नहीं है। अतः इस

प्रश्न का उत्तर भी प्राचीन ग्रंथों में खोजना अनुपयुक्त न होगा।

जैन धर्म आचार-प्रधान रहा है। यद्यपि सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र की रत्नत्रयी को मोक्ष का कारण माना गया है किन्तु उनमें मुख्य चरित्र ही है क्योंकि वही साक्षात् रूप से मोक्ष का कारण बनता है। चरित्र का अर्थ है धर्म का व्यावहारिक रूप। चरित्र को मुख्यतया देने का अर्थ है धर्म के व्यावहारिक रूप को मुख्यता देना।

यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। जैन परम्परा में धर्म के दो रूप हैं—निश्चय धर्म तथा व्यवहार धर्म। इन दोनों में निश्चय ही प्रधान है, व्यवहार गौण है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहार की मुख्यता नहीं है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हम "व्यवहार" का प्रयोग "प्रयोगात्मक रूप" के अर्थ में कर रहे हैं जिसे अंग्रेजी में "प्रेक्टिस" कहा जाता है। इस अर्थ में शास्त्रोक्त निश्चय तथा व्यवहार धर्म—दोनों ही व्यवहार के अन्तर्गत आ जायेंगे क्योंकि वे दोनों ही धर्म के प्रयोगात्मक रूप हैं। फिर भी व्यवहार की जो परिभाषा अमृतचन्द्राचार्य ने की है—पराश्रितो व्यवहारः—यह महत्त्वपूर्ण है। इस परिभाषा के अनुसार व्यहार का अर्थ होगा "सामाजिक रूप" क्योंकि समाज में हम अन्योन्याश्रय

भाव से रहते हैं। इसके विपरीत निश्चय धर्म का व्यक्तिगत रूप होगा क्योंकि निश्चय आत्माश्रित होता है, पराश्रित नहीं—आत्माश्रितोनिश्चयः।

निष्कर्ष यह है कि धर्म के दोनों रूप होते हैं—व्यक्तिगत भी, सामाजिक भी। मेरी दृष्टि में यदि धर्म के व्यक्तिगत स्वरूप का केन्द्रबिन्दु ढूंढ़ना हो तो वह समता है। यदि धर्म के सामाजिक स्वरूप का केन्द्रबिन्दु ढूँढ़ा जाये तो वह अहिंसा है। दोनों ही अपनी-अपनी जगह महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु उससे भी बड़ा सत्य यह है कि समता के बिना अहिंसा तथा अहिंसा के बिना समता सध ही नहीं सकती। यह व्यक्ति तथा समाज का समन्वय-बिन्दु है। व्यक्ति के हित में पूरे समाज का हित तथा पूरे समाज के हित में ही व्यक्ति का हित सन्निहित है। जो व्यक्ति तथा समाज के हित में हमें परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है—वह हमारी मिथ्या दृष्टि है।

इस अपरिहार्य विषयान्तर करने के बाद हम प्रकृत विषय पर आयें। उपर्युक्त आनुषङ्गिक चर्चा से यह स्पष्ट हो गया कि व्यवहार में पारस्परिकता का भाव अर्थात् सामाजिकता रहती है। नितान्त एकान्त में व्यक्ति धर्म को व्यवहार में पूर्णतः नहीं उतार सकता। समाज में ही धर्म का व्यावहारिक रूप पूरी तरह फलवान् होता है। अतः इस विषय की चर्चा करते समय हम 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग ठीक उस अर्थ में नहीं कर रहे

हैं जिस अर्थ में आचार्य कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने अथवा जैन आगमों ने किया है। जैन आगमों में व्यवहार का प्रयोग "लोक प्रचलित" अर्थ में है। उदाहरणत: भ्रमर में सभी वर्ण रहते हैं किन्तु लोक व्यवहार में उसे काला कहा जाता है। नयों के अन्तर्गत व्यवहार नय का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ भेद न होने पर भी भेद का उपचार कर लिया जाये। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हम व्यवहार शब्द का प्रयोग इन शास्त्रीय अर्थों में नहीं कर रहे। हमारा प्रयोजन यह है कि धर्म के सिद्धान्त जीवन के आचरण में कैसे उतरें—यह चर्चा की जाये।

जैन आचार्यों ने धर्म जीवन में क्यों नहीं उतरता—इस जटिल प्रश्न का एक संक्षिप्त तथा सरल सा उत्तर दिया है। वह उत्तर बहुत सटोक है और उसी में प्रश्न का समाधान भी निहित है।

जीवन में धर्म के व्यवहार में न उतार सकने का कारण है—मोह। मोह शब्द के अनेक अर्थ हैं। इन सभी अर्थो में मोह धर्म को जीवन में उतारने में बाधक बनता है। मोह के मोटे तौर पर चार अर्थ हैं—१. अज्ञान २. विपरीत ज्ञान अथवा भ्रम ३. संशय ४. आसक्ति। अज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा संशय के अर्थ में मोह दर्शन मोहनीय कर्म का परिणाम है तथा आसक्ति के अर्थ में मोह चारित्र-मोहनीय कर्म का परिणाम है। अर्थ

यह हुआ कि मोह का एक पक्ष हमारी दृष्टि को निर्मल नहीं होने देता तथा मोह का दूसरा पक्ष धर्म के सिद्धान्तों को व्यवहार में नहीं उतरने देता।

मोह के प्रथम अर्थ अज्ञान को लें। पाप के उल्लू अज्ञान के अन्धकार में ही रह सकते हैं, ज्ञान का उजाला होते ही पुण्य का हंस प्रकट हो जाता है। धर्म सुख का कारण है किन्तु हमें वह दुःख रूप प्रतीत होता है। यही अज्ञान है। हमें वर्तमान ही दिखता है, द्रष्टा को अतीत तथा अनागत भी दृष्टिगोचर होता है। अतीत अथवा अनागत है नहीं—ऐसा नहीं है किन्तु वह हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनता। इस अज्ञान के कारण हमें कारण-कार्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता। कारण होता है पूर्ववर्ती—वह अतीत में रहता है, कार्य होता है परवर्ती—वह भविष्य में रहता है। इन दोनों के बीच हम सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते और इसलिये हमें यह ज्ञान नहीं हो पाता कि धर्म सुख का कारण तथा अधर्म दुःख का कारण है।

महावीर जब किसी को धर्म में स्थिर करना होता था, तो उसे जाति-स्मरण करा देते थे। यह उनकी अपनी एक विशेष प्रक्रिया थी। जाति-स्मरण होते ही वह व्यक्ति धर्म में स्थिर हो जाता था; धर्म उसके व्यवहार में उतर जाता था। जाति-स्मरण हमारे सुख-दुःख तथा

पुण्य-पाप के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित कर देता है। उस सम्बन्ध के स्थापित होते ही धर्म हमारे जीवन में उतरना प्रारम्भ हो जाता है।

हम पापी को दुष्ट समझते हैं इसलिये उससे घृणा करते हैं। विज्ञजन पापी को अज्ञानी समझते हैं—इसलिये उस पर करुणा करते हैं। पाप का उद्गम दुष्टता नहीं, अज्ञान है। जो व्यक्ति यह जानता है कि अग्नि जला देती है, वह अग्नि के चमकदार सुन्दर रूप को देखकर उस पर मोहित होकर कभी भी उसका आलिंगन नहीं करेगा। अग्नि देखने में बहुत सुन्दर है किन्तु हम कभी उसे स्वप्न में भी छूने की बात नहीं सोचते। यह ज्ञान की ही महिमा है। ज्ञान मोहित नहीं होने देता। जो मोह में हैं वे अज्ञानी हैं। हरिभद्र सूरि ने 'योग शतक' में अज्ञान को ही मोह कहा है—'अण्णाणं पुण मोहो।' जिन लोगों ने ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाया उन लोगों के लिये ईसा मसीह ने कहा—'हे भगवन्! इन्हें क्षमा कर देना। ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।' ईसा मसीह ने देखा कि वे लोग अज्ञानी हैं। इसलिये ईसामसीह के मुख से उनके लिये करुणा के शब्द निकले, क्रोध के नहीं।

ईसामसीह को सूली पर चढ़ाने वालों को यह ज्ञान न हो कि सूली पर चढ़ाये जाने से ईसामसीह को कष्ट होगा—यह बात नहीं है। उन्हें यह पता नहीं था कि

ईसामसीह को सूली पर चढ़ाने से स्वयं उन्हें ही दुःख होगा। इतना ज्ञान तो हम सबको है कि किसी को मारें तो उसे दुःख होता है किन्तु यह ज्ञान किसी-किसी को ही है कि मारने से वास्तविक दुःख मरने वाले को नहीं, मारने वाले को होता है। पिटने वाले को दुःख हो रहा है—यह तो मूर्ख भी जानता है। पीटने वाले का समूल नाश हो रहा है—इसे केवलज्ञानी ही जानता है। इसलिये ज्ञानी पिटने से नहीं डरते, पीटने से डरते हैं। अज्ञानी पीटने से नहीं डरते, पिटने से डरते फिरते हैं। स्वाभाविक है कि ज्ञानी के जीवन में धर्म उतर जाता है, अज्ञानी के नहीं उतर पाता।

अर्थ और काम का फल प्रत्यक्षगोचर है। जब मनुष्य प्रत्यक्ष को छोड़ता है तथा परोक्ष की ओर अग्रसर होता है, तब ही वह धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ की ओर झुकता है। 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में कहा गया है कि देवताओं को परोक्ष ही प्रिय होता है, प्रत्यक्ष नहीं—'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।' ज्ञान की बहुत महिमा है। ज्ञान प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों विषयों को जान सकता है। वस्तुतः ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। इसकी अपेक्षा यह भी कहना अधिक उचित होगा कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। ज्ञान और आत्मा का भेद औपचारिक है, वस्तुतः दोनों में अभेद है। ज्ञान ही आत्मा है।

ज्ञान की इतनी महिमा होने पर भी आज ज्ञान की उपेक्षा हो रही है। मेरी दृष्टि में धर्म व्यवहार में उतरे, इसके लिये सबसे पहला कार्य यह करना चाहिये कि ज्ञान को जीवन में सर्वोपरि स्थान दें। हमने अपने जीवन में सर्वोपरि स्थान धन तथा सत्ता की शक्ति को दिया हुआ है। धन जीवन के लिये आवश्यक हैं—अतः धन एकत्र करना आवश्यक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धन को परमात्मा समझ लिया जाये। किसी पदार्थ को आवश्यक समझना और बात है, उसकी पूजा करना और बात है। संग्रह भले ही हम धन का भी करें किन्तु पूजा के योग्य तो ज्ञान ही है। जीवन में तथा समाज में मूल्य बदलने चाहिये। हम धन केवल इसीलिये नहीं रखते हैं कि वह जीवन की आवश्यकता है बल्कि धन-सञ्चय इसलिये भी किया जाता है कि धन समाज में पूज्य समझा जा रहा है। धर्म को व्यवहार में लाया जा सके इसके लिये यह आवश्यक है कि परिग्रह की पूजा बन्द हो तथा ज्ञान की पूजा प्रारम्भ हो। परिग्रह तथा ज्ञान दोनों की पूजा साथ-साथ नहीं की जा सकती। लक्ष्मी का तथा सरस्वती का परस्पर वैर है। इसका हमारे समाज ने यह अर्थ लगा लिया कि धनवान् विद्वान् नहीं हो सकता तथा विद्वान् धनवान् नहीं हो सकता। यह अर्थ बिल्कुल गलत है। धन जीवन की आवश्यकता है, जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विद्वान्

को भी धन चाहिये किन्तु वह उसकी पूजा नहीं करेगा। वह धन को उतना ही स्थान देगा जितने का वह वस्तुतः अधिकारी है। धनवान् के विद्वान् होने में भी कोई बाधा नहीं है किन्तु धनवान् के मन में ज्ञान के प्रति बहुमान होना चाहिये।

इधर पिछले कुछ वर्षों में जैन विद्या के बारे में विशेष चिन्तन प्रारम्भ हुआ हैं। यह शुभ लक्षण है क्योंकि यदि जैनों में विद्या के प्रति झुकाव होता है तो धर्म उनके जीवन में स्वयं ही उतरता चला जायेगा। जैन विद्या का प्रचार-प्रसार क्योंकि एक महत्त्वपूर्ण विषय है, अतः इस विषय पर भी संक्षेप में विचार प्रस्तुत करना असंगत न होगा। जैन विद्या के प्रचार-प्रसार की बात साधुओं की प्रेरणा से श्रेष्ठीजन प्रायः सोचते हैं। अनेक संस्थाओं का जन्म पिछले २५ वर्षों में हुआ है किन्तु इन संस्थाओं के माध्यम से अभीष्ट सिद्ध नहीं हो पाया।

प्रथम न्यूनता तो इन संस्थाओं में यह रही कि विद्वानों का बहुमान करना तो दूर, इन संस्थाओं में उनका शोषण ही हुआ। इसीलिये इन संस्थाओं में कोई विद्वान्—जब तक लाचारी ही न हो—जाना पसन्द नहीं करता। दूसरी न्यूनता इन संस्थाओं में यह रही कि किसी समर्थ पुरुष ने अपनी सन्तान को इन संस्थाओं का छात्र बनाना पसन्द नहीं किया। वे दीन-हीन जिन्हें कहीं

और ठौर नहीं मिली, इन संस्थाओं में छात्र बन गये। समर्थ पुरुष इन संस्थाओं में कमरे बनवाकर उन पर अपने नाम खुदवाते रहे किन्तु अपने बच्चों को इंजीनियरिंग और मेडिकल की लाइन में भेजते रहे, जैन विद्या को उन्होंने इस योग्य नहीं समझा कि उनके सुपुत्र उस विद्या के अनुशीलन में अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों का अपव्यय करें। ऐसी स्थिति में मैं यही कहूंगा कि हम में जैन विद्या के अभ्युदय की कामना नहीं है; हम तो जैन विद्या को निमित्त बनाकर अपनी लोकेषणा की पूर्ति के प्रति ही अधिक चिन्तित प्रतीत होते हैं। जो बात जैन विद्या संस्थाओं के सम्बन्ध में यहाँ कही गयी है वह सभी धर्मों की विद्या संस्थाओं के के बारे में लागू होती है।

यह चर्चा हमने केवल यह दिखलाने के लिये की है कि हमारे मन में बहुमान ज्ञान के प्रति नहीं, धन के प्रति है। इसका परिणाम यह हुआ कि हम धन से भी हाथ धो बैठे। भारत एक गरीब देश है। यह निर्धनता हमारे राजनेताओं के लिये चिन्ता का विषय बनी हुई है। मेरा विश्वास है कि बिना अज्ञान गये निर्धनता नहीं जायेगी। जब इस देश में ज्ञान का सम्मान था, तब यह देश निर्धन नहीं था। आज भी जिन देशों में समृद्धि है,

उन देशों में शत-प्रतिशत शिक्षा है। ज्ञान के अभाव में धर्म का ह्रास हो जाता है और धर्म के अभाव में सामाजिक समृद्धि भी अवरुद्ध हो जाती है। धर्म जहाँ व्यक्तिगत स्तर पर शान्ति प्रदान करता है वहाँ सामाजिक स्तर पर सहज ही समृद्धि भी देता है। जिस समाज के व्यक्ति धर्म-परायण हैं, उस समाज में हिंसा, आतंक, बेईमानी तथा हरामखोरी समाप्त हो जाती है। स्वाभाविक है कि ऐसा समाज लौकिक-दृष्टि से भी समृद्ध हो जाता है। इसीलिये व्यास ने घोषणा की थी—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते ?

अर्थात् मैं दोनों हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूं पर मेरी कोई सुनता ही नहीं। धर्म से अर्थ तथा काम सिद्ध होते हैं, फिर ऐसे धर्म का सेवन क्यों न किया जाये।'

कुछ विचारकों का खयाल है कि यह बात ब्राह्मण परम्परा के तो अनुकूल है किन्तु जैन परम्परा के अनुकूल नहीं है। जैन परम्परा भी पुण्य का फल लौकिक अभ्युदय ही मानती है। धर्म का व्यावहारिक रूप पुण्य ही तो है। धर्म को व्यावहारिक रूप में परिणत करने वाले पुण्यशील व्यक्ति सुख के भागी हों—इस विषय में जैन सिद्धान्त में भी कहीं बाधा नहीं है।

हमारा प्रयोजन यह दिखलाना है कि अज्ञान सभी अनर्थों का मूल है; वह परमार्थ में बन्धन का कारण है तथा व्यवहार में दरिद्रता का कारण है। यदि हम धर्म को व्यवहार में उतारना चाहें तो सबसे पहली चोट हमें अज्ञान पर करनी होगी। इसका प्रथम कदम ज्ञान के प्रति बहुमान का भाव रखना है। अज्ञान का प्रथम अर्थ ज्ञान का अभाव है। जब हमें ज्ञान का अभाव प्रकट करना होता है तो हम मोह शब्द का प्रयोग करते हैं। उदाहरणतः—नाटकों में जब कोई पात्र बेहोश हो जाता है तो उसके लिए यह कहा जाता है कि वह मोह को प्राप्त हो गया—मोहमुपागतः। यदि हम मूर्च्छा का जीवन जीते हैं तो वह मोह का जीवन है।

पूर्ण जागरूकता धर्म की पहली सोपान है। अप्रमाद एक ऐसा कल्पवृक्ष है जो इस लोक में सुख का कारण है तथा परलोक से लेकर अपवर्ग तक ले जाने वाला है। चाहे जैन हो चाहे अजैन, चाहे आस्तिक हो चाहे नास्तिक, चाहे धर्मात्मा हो चाहे पापात्मा ही क्यों न हो, प्रमादी व्यक्ति किसी को प्रिय नहीं लगता तथा अप्रमत्त व्यक्ति सबको प्रिय लगता है। हम प्रमाद छोड़ें। आलस्य तथा असावधानी दोनों ही प्रमाद हैं। प्रमाद छोड़ने से मूर्च्छा टूटती है—मोह का विलय होता है; हम जाग्रत हो जाते हैं। सुप्त व्यक्ति कहने के लिए हो

जीवित है, वह वस्तुतः मृत ही है। जो जाग गया वही जीवित है।

अज्ञान का एक दूसरा अर्थ विपरीत ज्ञान है। विपरीत ज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, वह अयथार्थ ज्ञान है। जागरूकता चोर और डाकुओं में भी बहुत होती है—वे अपना कार्य अत्यन्त सावधानी से करते हैं, किन्तु हम उन्हें ज्ञानी इसलिए नहीं कहते कि उनमें अच्छे-बुरे का विवेक नहीं हैं। वे अच्छे को बुरा तथा बुरे को अच्छा समझते हैं। इसे ही अविद्या अथवा मिथ्या दर्शन भी कहा जाता है। यही अविवेक है। यह भी मोह का ही एक रूप है—"कवयोऽप्यत्र मोहिताः", "मुह्यन्ति यत्सूरयः" आदि स्थलों में मोह शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में है।

तथाकथित विकसित देशों में शिक्षा है, सम्पन्नता, अपेक्षाकृत धर्म भी है। भ्रष्टाचार कम है। यूरोप में मिलावट करना या नकली चीजें बेचना—ऐसी धारणा ही नहीं है। किन्तु वहाँ भी सुख नहीं है क्योंकि वहाँ अपरा विद्या तो है किन्तु परा विद्या नहीं है। अपरा विद्या जागतिक पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न करती है। उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए किन्तु आत्मा-अनात्मा का विवेक परा विद्या से ही उत्पन्न होता है। सौभाग्य से भारत को पराविद्या की एक समृद्ध परम्परा प्राप्त है किन्तु वह परम्परा आज साम्प्रदायिक संकीर्णता की दल-दल में फंसकर हमारा कुछ भी उपकार नहीं कर पा रही

बल्कि स्वयं साम्प्रदायिकता एक अतिरिक्त समस्या बन गयी है।

ज्ञान की एक समस्या वह है जो 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाली परिस्थिति से उत्पन्न होती है। मतभेद केवल किसी विद्या की समृद्धि के सूचक हैं। जितने अधिक दृष्टिकोणों से जिस समस्या पर विचार हुआ होगा उतनी ही अधिक मतों की विविधता प्राप्त होगी किन्तु मोहवश यह मतभेद मनोभेद में परिणत हो जाता है।

इस परिस्थिति का कारण यह है कि दर्शन मोहनीय कर्म ही धर्म में बाधक नहीं है, चारित्र मोहनीय कर्म भी धर्म को व्यवहार में नहीं उतरने देता। दर्शन मोहनीय का सम्बन्ध दृष्टि से है, चारित्र मोहनीय का सम्बन्ध हृदय से है। इसलिये चारित्र मोहनीय के प्रसंग में मोह का अर्थ अज्ञान नहीं बल्कि आसक्ति हो जाता है। आसक्ति भी अज्ञान से ही उत्पन्न होती है अतः दोनों को ही मोह कहा जाता है। पुत्र का मोह, धन का मोह इत्यादि वाक्यांशों में हम मोह शब्द का प्रयोग आसक्ति के अर्थों में करते हैं। यह आसक्ति भी धर्म को व्यवहार में नहीं उतरने देती।

आसक्ति अकस्मात नहीं छूटती। वीतरागता तो मार्ग का लक्ष्य है—त्रयोदश गुणस्थान है। मार्ग का

प्रारम्भ बिन्दु चतुर्थ गुणस्थान है। चतुर्थ गुणस्थान में व्रत नहीं हैं किन्तु दृष्टि-सम्पन्नता है। अविरत सम्यग्दृष्टि का राग नहीं छूटता किन्तु राग का राग छूट जाता है। वह सभी भोग उसी प्रकार भोगता है जिस प्रकार मिथ्या-दृष्टि, किन्तु दोनों की अन्तर्दृष्टि में रात-दिन का अन्तर रहता है। हम भोगों की रक्षा उस प्रकार करें जिस प्रकार कोई धाय ध्यान तो किसी और के बच्चे का करती है किन्तु प्रेम उसका स्वयं अपने ही पुत्र से होता है। मिथ्या दृष्टि भोगों से इस प्रकार प्रेम करता है जिस प्रकार कोई माँ अपने औरस पुत्र को प्रेम करती है। सम्यग्दृष्टि भोगों को पर-पुत्र की भाँति पालता है किन्तु उसका आन्तरिक प्रेम योग के प्रति रहता है, भोग के प्रति नहीं।

जब हम व्यावहारिक धर्म की बात करते हैं तो हमारा ध्यान यह रहता है कि धर्म ऐसा होना चाहिए जो हमारे लौकिक क्रिया-कलापों में बाधक न हो। व्रत किसी न किसी अंश में लौकिक क्रिया-कलापों में बाधक ही होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि का जीवन इस दृष्टि से पूर्णतः व्यावहारिक होता है। वह किसी भी लौकिक कर्म का त्याग नहीं करता क्योंकि वह कोई व्रत धारण करता ही नहीं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका जीवन मिथ्यादृष्टि के जीवन के समान है। बाहर से दोनों में

समानता है किन्तु अन्दर से भेद है। यह भेद ही यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु है।

राग सहसा न छूटे किन्तु दृष्टि बदलते ही राग के प्रति का राग छूट जाता है। यदि राग के प्रति का राग नहीं छूटा तो अभी दृष्टि ही नहीं बदली। राग का राग छूटने के साथ ही एक दूसरा कदम उठाना होता है। यदि राग न छूटता हो तो कम से कम संकीर्ण राग छोड़ दें। राग को विस्तृत रखें। राग जब संकुचित हो जाता है तो वह अशुभ हो जाता है। राग जब अपने में प्राणी मात्र को समेट लेता है तो वही राग शुभ हो जाता है। शुभ राग भी बाँधता है—यह सही है किन्तु प्रारम्भ में शुभ न छूटे तो अशुभ ही छूट जाये। दोनों जंजीरें एक साथ न टूटें, तो एक तो टूटे।

हम में भोजन की इच्छा सहज ही होती है। हम अपने लिये अच्छा से अच्छा भोजन जुटाना चाहते हैं। यदि हम इसी इच्छा का विस्तार इस रूप में कर दें कि प्राणी मात्र को अच्छा से अच्छा भोजन मिले तो हमारे अपने सुख की इच्छा—जो संकुचित रूप में अशुभ थी—सबके सुख की इच्छा में बदल जायेगी। हम सबके लिए भोजन जुटायेंगे, यह सम्भव नहीं है किन्तु यथा सम्भव यह ध्यान रखेंगे कि हमारे आस-पास कोई भूखा तो नहीं रह गया। यथा सम्भव यदि कभी ऐसी आवश्यकता आ

ड़े कि हमारे भोजन में से एक अंश दूसरे की आवश्यकता ी पूर्ति के लिये देना पड़े तो वह भी करेंगे। यह राग-वस्तार है, वीतरागता नहीं है। समस्त समाज-कल्याण ा आधार यही भाव है कि जो सुख मुझे उपलब्ध हैं उन ुखों में से कुछ सुखों का त्याग यदि दूसरे के लिये करना ड़े तो खुशी से ऐसा कर दूँ। इसी भाव पर कोई रिवार, समाज अथवा राष्ट्र टिकता है। यदि यह भाव माप्त हो जाय तो पति-पत्नी भी साथ नहीं रह सकते, रे राष्ट्र के तो मिलकर रहने की बात ही क्या है।

स्वार्थपरायणता से संकीर्णता पनपती है। ंकीर्णता संघर्ष को जन्म देती है तथा संघर्ष समाज का वघटन कर देता है। अतः धर्म का एक मुख्य कार्य माज को विघटन से बचाना है। 'महाभारत' में कहा या है—धर्म समाज को धारण करता है—'धर्मो ारयति प्रजाः।' समझने की आवश्यकता यह है कि ब समाज टूटता है तो व्यक्ति भी नहीं बच सकता। न में आग लग जाए तो पेड़ कैसे सुरक्षित रह सकता ? अतः अत्यधिक स्वार्थपरायणता आत्मघाती ही सद्ध होती है। जब तक लोभ कषाय है—और लोभ षाय सबसे अन्त में जाती है—तब तक स्वार्थ तो हेगा किन्तु स्वार्थ का विस्तार किया जा सकता है। जब क स्वार्थ से परमार्थ पर न पहुंच सकें, परार्थ की साधना ी परमार्थ तक पहुंचने का साधन बन सकती है।

निष्कर्ष यह है कि धर्म का एक व्यावहारिक रू भी है। यह व्यावहारिक रूप साधन बनता है धर्म पारमार्थिक रूप की सिद्धि का। धर्म का पारमार्थिक रू सदा ही विरल रहा है किन्तु धर्म का व्यावहारिक रू केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं लौकिक दृष्टि से भ कल्याणकर है। अतः धर्म के इस स्वरूप का पालन सभ कर सकते हैं।

धर्म के पालन में बाधक मोह है। अतः आठ प्रका के कर्मों में मोहनीय कर्म को ही प्रबल शत्रु कहा है। यां मोहनीय कर्म टूट जाये तो शेष कर्म जीव का कुछ नह बिगाड़ सकते। मोह के टूटने का एक अर्थ है ज्ञान होना ज्ञान के प्रति बहुमान हो तो ज्ञान का अर्जन होता है जैसे धन के प्रति बहुमान होने पर हमारी समस्त शत्ति धन के अर्जनोपाय सोचने में ही लग जाती है, वैसे ज्ञा के अर्जनोपाय सोचने में हमारी शक्ति लगे। ज्ञान से ध की इष्टता प्रकट होती है, पाप की अनिष्टता स्पष्ट होती है, धर्म स्वयं व्यवहार में प्रकट होने लगता है धर्म व्यवहार में उतरे तो लौकिक बाधायें भी का होती हैं।

ज्ञान का मुख्य कार्य है—विवेक। विवेक हा बताता है कि जिसे हम विषय-सुख समझे बैठे हैं, व चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय का फल है तथा असात वेदनीय कर्म के बन्धन का कारण है। अर्थात् सुख दोन

आर से दुःख से घिरा है। यह जानने पर भी विषय भोग भले ही न छूटें, विषयों की तृष्णा छूट जाती है।

विषयों की तृष्णा छूटते ही स्वयंमेव पापों का अल्पीकरण होता है, पुण्य-प्रवृत्ति बढ़ती है। पुण्य हमारी शक्ति को बढ़ाता है। ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों व्रत महाव्रत की ओर बढ़ते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि आत्मा परमात्मा बन जाती है, जो कि धर्म को व्यवहार में लाने का परम प्रयोजन है।

□

ट्रैक्ट साहित्य सदस्यता सूची-२३

१०१ रुपया प्रत्येक

९८६. श्री मांगीलाल प्रकाशचन्द डूंगरवाल, बंगलौर
९८७. ,, दौलतराम टीकमचन्द चौपड़ा, बंगलौर
९८८. ,, सुगनराज मूथा, बंगलौर
९८९. ,, पारसमल हेमन्तकुमार ओस्तवाल, बंगलौर
९९०. ,, बाबूलाल सुखराज जैन, बगलौर
९९१. ,, दीपक स्टोर्स, बंगलौर
९९२. ,, धूलराज मोहनलाल बोहरा, बंगलौर
९९३. ,, प्रकाशचन्द बडेरा, बंगलौर
९९४. श्रीमती पुष्पा, गौतमचन्द बाफना, बंगलौर
९९५. श्री शान्तिलाल बो. जैन, अमासंडारा (कर्नाटक)
९९६. ,, डी. रिखबचन्द चौपड़ा, बंगलौर
९९७. ,, ए० सोहनलाल, बंगलौर
९९८. ,, ए० खीमराज, बंगलौर
९९९. ,, पी. धनराज जैन, बंगलौर
१०००. ,, मोहनलाल लक्ष्मीकान्त, बंगलौर
१००१. ,, सूरजमल डागा, बंगलौर
१००२. ,, मोहनलाल राजमल कोठारी, कलकत्ता
१००३. ,, जैन बन्धु, नई दिल्लो

क्रमशः

इस शृंखला में अब तक प्रकाशित पुस्तकों की सूची :

१. चरित्र निर्माण में नारीकी भूमिका
२. जैन धर्म : जीवन धर्म
३. सुखी जीवन कैसे जिएँ
४. स्वाध्याय
५. जैन परम्परा के अनुष्ठान
६. श्रावक धर्म
७. धर्म और हम
८. भक्तामर स्तोत्र
९. सामायिक
१०. सेवा करें : सुखी रहें
११. जैन साधना में तप
१२. ध्यान-साधना
१३. अपरिग्रह की प्रासंगिकता
१४. शाकाहार उत्तम क्यों ?
१५. अहिंसा की कथाएँ
१६. जीवन-मूल्य
१७. तनावों से मुक्ति
१८. गणधर इन्द्रभूति गौतम
१९. समता का व्यावहारिक दर्शन
२०. पर्यावरण और धर्म
२१. दूहा सतक
२२. प्रेरक प्रसंग
२३. वक्तृत्व-कला
२४. कर्म सिद्धान्त
२५. अपनी पहचान
२६. इन्द्रिय से अतीन्द्रिय की ओर
२७. आधुनिक जीवन और अहिंसा
२८. क्षमा
२९. अहोभाग्य है मेरा
३०. करुणा की किरणें
३१. क्षमासागर महावीर
३२. कषाय-विजय
३३. विचार-वल्लरी

३४. जैन दीक्षा

३५. बाल-दर्शन : बाल महिमा

३६. जिन वचनामृत

३७. योग-विज्ञान

३८. विनयचन्द चोबीसी

३९. शील की कथाएँ

४०. पर्युषण और दस लक्षण धर्म

४१. साधना-स्वरूप-विधि

४२. मुक्तकमाला

४३. सागर के पार

४४. जैन आगम साहित्य

४५. पच्चक्खाण : क्यों और कैसे ?

४६. जैन समाज की एकता

४७. चिन्तन-प्रसंग

४८. दर्शन के क्षणों में

४९. पथ-दीपिकाएं

५०. मृत्यु-चिन्तन

५१. महाराष्ट्र में जैन धर्म

५२. नवकार महामंत्र

५३. जीवन का अमृत : दान

५४. धर्म को व्यवहार में कैसे उतारें ?

५५. जीवन-गीतिका

ज्ञान प्रसार पुस्तकमाला के प्रचार-प्रसार में इस प्रकार सहयोगी बनें

- ☐ १०१ रुपये देकर स्वयं सदस्य बनें और १०८ पुस्तकें प्राप्त करें। प्रत्येक माह औसतन एक पुस्तक का प्रकाशन।
- ☐ अपनी ओर से सार्वजनिक पुस्तकालयों, स्कूलों, धार्मिक पाठशालाओं, जैन स्थानकों, मन्दिरों, स्वाध्याय संघों को सदस्य बनाकर पुस्तकें भिजवायें।

पुस्तकें हम आपके नाम की मोहर लगाकर परिषद् के डाक-व्यय पर सम्बन्धित पुस्तकालयों व संस्थाओं को नियमित भिजवाते रहेंगे।

- ☐ तपस्या, जयन्ती, पुण्यतिथि, विवाह, पर्वतिथियों व विशेष शुभ अवसरों पर प्रभावना के रूप में अधिक से अधिक पुस्तकें वितरित करें। १०० और उससे अधिक पुस्तकें मंगाने पर २५% कमीशन दिया जायेगा।
- ☐ २५०० रुपये प्रति पुस्तक के प्रकाशन में अर्थ सहयोग प्रदान कर तथा तीसरे कवर पृष्ठ के लिए विज्ञापन देकर श्रुत-सेवा का लाभ उठावें।

राशि मनिआर्डर या ड्राफ्ट से 'श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्' के नाम सी–२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर–३०२००४ के पते पर भेजें।

डॉ० दयानन्द भार्गव

डॉ० दयानन्द भार्गव जैन धर्म, दर्शन
विद्वान् होने के साथ-साथ अन्य भारतीय द
संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित और विशिष्ट
ख्याता हैं। आपने दिल्ली विश्वविद्यालय से संस्कृत
एम. ए. व "जैन एथिक्स" विषय पर पी. एच. डी. व
उपाधि प्राप्त की।

दिल्ली विश्वविद्यालय में २० वर्ष तक संस्कृत वे प्राध्यापक रहने के बाद आपकी नियुक्ति राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान द्वारा संचालित केन्द्राय संस्कृत विद्यापीठ जम्मू तथा प्रयाग के प्राचार्य पद पर हुई। सम्प्रति आप जोधपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के आचार्य और अध्यक्ष व कला, शिक्षा तथा समाज विज्ञान संकाय के अधिष्ठाता हैं।

आप ओजस्वो वक्ता, कुशल लेखक और गहन
अध्येता हैं ा, शिक्षा तथा समाज विज्ञानत आदि भाषाओं
पर आपक पके कई ग्रन्थ
प्रकाशित आप ओजस्वो वक्ता, कुशल एथिक्स, जैन
तर्क भाषता हैं ा, शिक्षा तथा समाज विज्ञा जोवन-दर्शन
की पृष्ठ आपक युक्ति दीपिका
आदि।

प्रस्तुत पुस्तिका में 'धर्म को व्यवहार मैं कैसे उतारें' विषय पर विद्वत् संगोष्ठी के अवसर पर मेपाउ शहर में दिया गया आपका विशेष व्याख्यान संकलित है।

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र कोबा